पञ्च महायज्ञ तत्त्व मीमाँसा

कार्य और कारणरूपसे धर्म्मशक्ति और यज्ञ दोनों एक ही पदार्थ हैं। इसलिये शास्त्र में आत्माके उन्नतिकारी सकल प्रकारके पुरुषार्थको ही यज्ञ कहा है। वास्तव में धर्म और यज्ञ ये दोनों एक दूसरेके पर्यायवाचक शब्द हैं। केवल विज्ञानके स्पष्ट करनेकेलिये धर्म्म शब्दको साधारणरूपसे और यज्ञशब्दको विशेषरूपसे व्यवहार किया गया है। यज्ञ-शक्तिसम्बन्धि-विज्ञान के साथ सृष्टिका कितना सम्बन्ध है, सो स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है। यथा:

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661

भूत समूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, सुवृष्टिद्वारा अन्नकी उत्पत्ति हुआ करती है, यज्ञकेद्वारा वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म्मसे होता है, कर्म्म प्रकृतिसे होता है और प्रकृतिका अस्तित्व ब्रह्मसत्ताकेद्वारा है। इसलिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म सदा यज्ञरूपी धर्मकार्य्य में प्रतिष्ठित हैं। यही यज्ञकेसाथ ईश्वरका अलौकिक विज्ञान युक्त सम्बन्ध है। इसीलिये मीमांसा-दर्शन में यज्ञको साक्षात् ईश्वरका रूप करके वर्णन किया गया है। इसीलिये नारायणोपनिषद् में लिखा है कि:

यज्ञेन हि देवा दिवं गता, यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्तः, यज्ञेन द्विपन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।

यज्ञकेद्वारा ही देवताओंको स्वर्ग प्राप्ति होती है, यज्ञकेद्वारा ही आसुरी शक्तिका दमन होता है, यज्ञकेद्वारा शत्रु भी मित्र होते हैं और यज्ञ में ही सकल

संसारकी प्रतिष्ठा (स्थिति) है। इसलिये यज्ञ अति श्रेष्ठ वस्तु है।

प्रकृत विषय महायज्ञका है । यज्ञ और महायज्ञ दोनों एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि, यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिकेसाथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका महत्त्व है कि, इसमें समष्टि सम्बन्ध प्रधान करनेसे इसका फल जगत्कल्याणकेसाथ अत्माका कल्याण है । इसलिये महायज्ञमें निःस्वार्थ निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है । पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजने कहा है कि:-

यज्ञः कर्मसु कौशलम् ।

समष्टिसन्बन्धान्महायज्ञः ।

सुकौशल पूर्ण कर्मको यज्ञ कहते हैं और समष्टि सम्बन्धसे उसीको महायज्ञ कहते हैं।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्य जन्मका लक्ष्य है, तो जिस कार्य्यकेद्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा, उसीकी महिमा सर्वोपरि होगी, इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावकेसाथ ईश्वरभावका यही भेद है कि, जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ है। जीव देश, काल और वस्तु परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेकेकारण विभु, नित्य एवं पूर्ण हैं । जीव अविद्याके अधीन है और ईश्वर मायाके अधीश्वर हैं। जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और ईश्वरभाव परार्थपर एवं निरहङ्कार है । जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता मायाकी छायाकेकारण अनित्य सुखरूप में परिणत है; परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है। उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी

आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है । इसलिये जिस अनुष्ठान केद्वारा जीवभावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्, उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावकेसाथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? प्रस्तावित विषय महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है । इसीलिये महायज्ञ महान् है । यज्ञकेद्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुख लाभ होनेपर भी महायज्ञकेद्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एवं समस्त वर्ण और समस्त आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं। आगे इसका वर्णन किया जा रहा है

जिस कार्य्यकेद्वारा आत्माका हित होता है, उसी कार्य्यकेद्वारा सम्पूर्ण जगत्का हित हुआ करता है; अपिच जिस कार्य्यकेद्वारा जगत्का हित होना सम्भव

है, उसी कार्य्यकेद्वारा आत्माका भी हित हुआ करता है, क्योंकि ब्रह्माण्डरूपी विराट् देह और विराड्रूपी जीव देह समष्टिव्यष्टिरूपेण एक सम्बन्धयुक्त है। इस कारण अपने हितके विचार एवं साथ ही साथ जगत् के अवश्यम्भावी हितके कारण यज्ञरूपी धर्म साधन करना परमावश्यक है । धर्मके साथ जीवका इसप्रकार एकत्व सम्बन्ध है कि, धर्मके साधन न करनेसे अथवा उसके विरुद्धाचरणसे जीव क्रमशः उन्नत न होकर अधोगामी दशाको प्राप्त होता है । इसीकारण वह अधर्मकेद्वारा तिर्य्यक् आदि योनि एवं जड़ प्रस्तरतकको प्राप्त होजाता है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि:

य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिम्वा शुकरयोनिम्वा चाण्डालयोनिम् वा ।

जो इस संसार में नीच आचरण अथवा उसके अभ्यास

करनेवाले हैं, वे नीचयोनियोंको प्राप्त होते हैं । कुक्कुर शूकर वा नीच चाण्डाल आदि योनियोंको वे प्राप्त होते हैं। विशेषतः धर्म्मसाधनकी परमावश्यकताके विषय में श्रीभगवान् कृष्ण गीताजीमें स्वयं उपदेश किया है कि:-

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैदत्तानप्रदायभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

प्रजापतिने यज्ञ सहित प्रजाकी सृष्टि करके उनसे आज्ञा की कि, तुम सब इस यज्ञकेद्वारा क्रमशः

उन्नतिको प्राप्त करो | इसके द्वारा ही तुम्हारा सकल मनोरथ पूर्ण होगा। यज्ञकेद्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवगण तुमको सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर के सम्वर्द्धन से श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त करोगे, क्योंकि देवतागण यज्ञकेद्वारा सन्तुष्ट होकर ईप्सित भोगको प्रदान किया करेंगे । देवताओंकेद्वारा प्राप्त पदार्थ उन्हें न देकर जो स्वयं भोग करते हैं, वे चोर हैं। यज्ञशेषभोजी सत्पुरुप सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होजाते हैं । जो केवल अपनेलिये भोग्य पदार्थोंको पकाता है, वह पापी पापको भोग करता है । इस प्रकार वर्णनकरके गीताजीमें पुनः वर्णन किया है कि:

एवं प्रवत्तितं चक्रं नाऽनुवर्त्तयतीह यः ।
घायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इस प्रकार प्रवर्त्तित कर्म्मचक्रका जो अनुगमन नहीं करता है, इन्द्रियपरायण उस पापात्माका जीवन ही

वृथा है। विश्व-जीवनको इसी चक्रकेसाथ मिलाकर प्रकृतिकी कल्याणवाहिनी धारामें समस्त जीवोंका सम्बन्ध बाँधकर परमात्माके चिरशान्तिमय चरण कमलकीओर संसारकी गतिको प्रवाहित करनेकेलिये जो शक्ति काम करती है, वह महायज्ञकी ही महती शक्ति है । श्रीभगवान्ने गीताजी में कहा है कि:

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।

हे अर्जुन ! इस संसार में मुझसे अलग और कोई वस्तु नहीं है। सूत्रमें मणिगण जैसा समस्त संसार मुझमें ओतप्रोत है। यह सम्पूर्ण विश्व एक ब्रह्मरूपी सूत्रमें मणिके दानेकी तरह प्रथित है। सूत्रमें गुँथी हुई मालाका एक दाना भ्रष्ट होनेसे जिसप्रकार समस्त दानें स्वतः ही स्थानभ्रष्ट होजाते हैं, उसी प्रकार

विश्वप्राणके अन्तर्गत किसी अंशमें थोड़ासा आघात लगनेसे ही उसकी प्रतिक्रिया में समस्त विश्वप्राण कम्पित, आलोडित और आहत होजाता है। जिस प्रकार स्थूल शरीरके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गकेसाथ समस्त शरीरका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है कि, प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गके सुखकेसाथ समस्त शरीरको सुख हुआ करता है और किसी साधारण अङ्ग या प्रत्यङ्गके रुग्ण होनेसे समस्त शरीर रोगी होजाता है; ठीक उसी प्रकार विराट्के विपुल शरीरमें आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त समस्त जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि,पितर् सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपसे विराजमान हैं, इसकारण एककी हानिसे सबकी हानि व एकके कल्याणसे सवका कल्याण निःसन्देह हुआ करता है । अतः इस विश्व ब्रह्माण्डका कोई अंश उपेक्षाके योग्य नहीं है । स्थूल व्यष्टि जगत् और स्थूल समष्टि जगत्, सूक्ष्म मनोमय व्यष्टि जगत् और सूक्ष्म मनोमय समष्टि जगत्, व्यष्टि कारण जगत् और समष्टि कारण जगत् सभी एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं । इसलिये व्यष्टिका

घात प्रतिघात समष्टिमेंऔर समष्टिका घात प्रतिघात व्यष्टिमें अवश्य फलदायी होता है । मेरे प्राणमें जो स्पन्दन होगा, उसकी तरङ्गे समष्टि प्राणसमुद्रको कम्पित करेंगी, समष्टि प्राणसमुद्रका कम्पन मेरे हृदयगत प्राणमें हिल्लोल उत्पन्न करेगा, इसमें सन्देह नहीं । मेरे अन्तःकरणमें जो चिन्ताकी तरङ्ग उठेगी, उसका प्रतिघात ब्रह्माण्डअन्तःकरण में जाकर होगा और उससे विकीर्ण होकर जीव जगत्की समस्त चित्त नदियोंको आलोडित करेगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि व्यष्टि व समष्टि अन्तःकरण अभिन्न है। इन सब वैज्ञानिक तत्त्वोंसे यह बात सिद्ध होती है कि, यदि संसारके एक अंशको साधक त्याग देवें तो, उससे समष्टि सृष्टिको हानि पहुँचना अवश्य सम्भव है । इसलिये मुमुक्षु मानव जितना ही इस विश्व ब्रह्माण्डके अपरिहार्य नियमके अधीन होकर जीवन पथपर चलता रहेगा, उतना ही वह उस जीवनोन्नतिकारी धर्म्मकी महाशक्ति के साथ अपना सम्बन्ध स्थापन

करता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करेगा। गान्धर्व्व वेदके ज्ञाता गायकको अपना कण्ठस्वर नियमित करनेकेलिये जिस प्रकार सप्तस्वरमय यन्त्रके समष्टि स्वरकी सहायता लेनी पड़ती है, उसी प्रकार मनुष्यको भी अपनी जीवनधाराको नियमित करके मुक्तिकीओर अग्रसर होनेकेलिये अपने जीवनकेसाथ विश्वजीवनका सम्बन्ध स्थापन करना प्रथम कार्य है। इसी वैज्ञानिक तत्त्वको व्यावहारिक जीवनके कार्य-कलापकेद्वारा उपलब्ध करने के लिये वेद और शास्त्र में जो उपाय बतलाया गया है, उसे महायज्ञ कहते हैं। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि, मनुष्योंके क्रमोन्नतिकारी धर्म्मसम्वन्धीय साधनको अर्थात् व्यष्टि जीवोंके उपकारक धर्मसाधनको यज्ञ कहते हैं, और समष्टिरूपी ब्रह्माण्डके तृप्त करनेयोग्य साधनको महायज्ञ कहते हैं। पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराने कहा है कि:-

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।

व्यक्तिगत व्यष्टि धर्मकार्यको यज्ञ और सार्वभौम समष्टि धर्मकार्य्यको महायज्ञ कहते हैं।

इसी बातको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, जीव स्वार्थके वास्तव में चार भेद हैं, यथा:- स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका यह अनुभव है कि, जीवके ऐहलौकिक सुखसाधनको स्वार्थ कहते हैं और पारलौकिक सुखके लिये जो पुरुषार्थ, उसको परमार्थ कहते हैं। दूसरे जीवोंके ऐहलौकिक सुखके साधन करानेमें अपनेको सुखी समझनेका अधिकार, जब साधकको प्राप्त होता है, उसीका नाम परोपकार है। दूसरे जीवोंके पारलौकिक कल्याण करानेके अधिकारको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परमार्थका सम्बन्ध यज्ञसे है और परोपकार व परमोपकारका सम्बन्ध महायज्ञ साधनसे माना गया है। इसकारण महायज्ञका अधिकार और भी उन्नत है, इसीसे उसकी विशेषता

कही गयी है। निष्काम होकर महायज्ञके साधन करनेसे साधकको मुक्ति प्राप्त होसकती है। संसार में जितने प्रकार के जगत् कल्याणमूलक निष्काम कर्मयोग हैं, वे सभी महायज्ञ के अन्तर्गत हैं । चाहे ज्ञानकी उन्नति करनी हो, चाहे शक्तिकी उन्नति करनी हो, चाहे स्थूल धन सम्पत्तिकी उन्नति करनी हो, देशभक्ति और धर्मके ऊपर प्रीतिकेद्वारा युक्त होकर निष्काम कर्मयोगी, जो कुछ कार्य करेंगे, वे सभी महायज्ञ कहलायेंगे। इसप्रकार भाग्यवान् पक्षपात रहित उदार चेता महायज्ञके अनुष्ठाताकी, अपने जीवनका देश और धर्मकेलिये उत्सर्ग करनेकेकारण स्वार्थ बुद्धि क्रमशः नष्ट होजायगी, देह और इन्द्रियोंकेप्रति ममता दूर होजायगी, क्षुद्र अहङ्कार भाव विगलित हो जायगा और उनका जीवन विश्वजीवनकेसाथ व उनका प्राण विश्वप्राणकेसाथ मिलजानेसे उनकी सत्ता विराट् भगवान्की व्यापक सत्ता में जगत्को ही ब्रह्म जानकर निष्काम जगत्सेवाकेद्वारा विलीन होजानेसे उनको

नित्यानन्दमय मुक्तिपद प्राप्त होजायगा । यही महायज्ञ साधनका चरम फल है । इसमें सकल वर्णों और सकल आश्रमोंके अधिकारियोंका अधिकार है । शास्त्र में द्विजोंके नित्यकर्मरूपसे जो पञ्चमहायज्ञका विधान किया गया है, उसके विज्ञानपर संयम करनेसे बुद्धिमान् मनुष्योंको मालूम होगा कि, स्मृतियों में पञ्चसूना दोषनाशरूप पञ्चमहायज्ञका जो फल वर्णन किया गया है, वह केवल उसका व्यष्टि शरीरसे सम्बन्धयुक्त गौण फलमात्र है । पञ्चमहायज्ञका मुख्य फल विश्वजीवनकेसाथ एकताकेद्वारा आत्मोन्नति साधन है। इसलिये इस प्रबन्धमें पञ्चमहायज्ञको ही दृष्टान्तरूपसे लेकर तदन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञके विज्ञानको बतलाते हुए महायज्ञका महत्त्व प्रतिपादन किया जायगा । श्री भगवान् मनुजीने कहा है कि:-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।

पञ्चैतांश्च महायज्ञान हापयति शक्तितः ।

स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।।

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।

न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।

दैवकर्मणि युक्तो हि विमर्त्तीदं चराचरम्।।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।

शास्यते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।

पितृन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा।।

अध्ययन-अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलकेद्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका

नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ; पशु पक्षीआदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है ।

जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनको गृहस्थ में रहनेपर भी पञ्चसूना दोप स्पर्श नहीं करता। देवता, अतिथि पिता मातादि पोष्यवर्ग, पितृगण और आत्मा इन पाँचोंको जो मनुष्य पञ्चमहायज्ञकेद्वारा अन्न नहीं देता है, उसका जीवन वृथा है । स्वाध्याय और दैव कर्ममें सदा ही युक्त रहना चाहिये। दैवकर्ममें युक्त होनेसे मनुष्य चराचर विश्वको धारण कर सकता है; क्योंकि देवयज्ञमें, जो आहुति अग्निमें प्रदान की जाती है, सो आदित्यलोकमें पहुँचती है, आदित्यकी तृप्ति होनेसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। ऋषि, देवता, पितृ, भूत और अतिथि सभी गृहस्थोंसे आशा रखते हैं। इसलिये उनके प्रति

निम्नलिखित कर्त्तव्योंको ज्ञानवान् पुरुषको अवश्य करना चाहिये। वेद और वेदसम्मत शास्त्रों के स्वाध्यायसे ऋषियोंको, यथाविधि होमकेद्वारा देवताओं को, श्राद्धकेद्वारा परलोकगत पितरोंको, अन्नकेद्वारा मनुष्योंको और बलिकेद्वारा भूतोंको तृप्त करना चाहिये। इस प्रकारसे स्मृतिमें पञ्चमहायज्ञ के द्वारा समस्त संसारको तृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है।

अब उस विधिकेद्वारा प्रकृति माताके ऋणसे उऋण होकर विश्वजीवनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापन करके मनुष्य कैसे आध्यात्मिक उन्नति और मुक्तिको लाभ कर सकता है, सो एक एक यज्ञका संक्षिप्त रहस्य वर्णन करते हुए नीचे दिखाया जायगा।

ब्रह्मयज्ञ

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। पञ्चमहायज्ञों में यह यज्ञ सर्व प्रथम है। विश्वजीवनके साथ प्रत्येक मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेकेकारण एकके कार्यका दूसरेके फलके साथ एकत्व सम्बन्ध है। इसकारण स्वयं अध्ययन करना अथवा शिष्यके कल्याणार्थ अध्ययन कराना, कार्यतः समान फलदायी है। वेदके तीनों काण्ड कर्म, उपासना और ज्ञानमेंसे साधन क्रमके अनुसार ज्ञानकी प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं । ज्ञानकी परमावश्यकताके विषय में वेदसे लेकर सब शास्त्र ही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। मनुष्यों में केवल ज्ञानकी विशेषता रहनेकेकारण मनुष्य अन्य जीवोंमें सर्व श्रेष्ठ कहा जाता है। सदाचार समूहके अभ्यासद्वारा कार्यतः धर्मानुष्ठानसें रत होनेसे मनुष्य मनुष्यत्व पदका अधिकारी हुआ करता है । पुनः वह धार्मिक साधक

कर्मकाण्डके साधनद्वारा अपनी बुद्धिको निर्मल करके भगवद्राज्य में पहुँचकर भगवदुपासनाका श्रेष्ठ अधिकारी होता है। तदनन्तर श्रीभगवान् की कृपासे भगवज्ज्योतिरूप, ज्ञानाधिकार प्राप्त करके त्रितापसे बचकर मुक्तिपद में पहुँच जाता है। मनुष्यकी क्रमोन्नतिका यही साधारण क्रम है। इसीकारण ज्ञानयज्ञरूपी स्वाध्यायकी वेदों में निम्नलिखित रीतिसे इतनी प्रशंसा की गयी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है। यथा:

ऋतश्चस्वाध्यायप्रवचने च । सत्यंच स्वाध्यायप्रवचने च।

इत्यादि ज्ञानकी महिमा वर्णनकी श्रेष्ठता केअर्थ ही वेदान्तर्गत विभागोंके तारतम्यानुसार ज्ञान विस्तारकारी उपनिषद्भागकी महिमाकेअर्थ कहा गया है कि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह सब अपरा विद्या है और इन सबके अतिरिक्त जिस

विद्याकेद्वारा परमात्मा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वही सर्वश्रेष्ठ परा विद्या है। क्रमोन्नति में ज्ञानकी प्रधानताकेकारण प्रथम अवस्थासे लेकर शेषावस्थापर्यन्त एकमात्र ज्ञानकी ही सर्वोपरि आवश्यकता है। प्रथमावस्था में मनुष्य विना ज्ञानकी सहायता प्राप्त किये असत्के त्यागपूर्वक सदाचाररूपी धर्माधिकारको प्राप्त नहीं करसकता, क्योंकि प्राकृतिक गुणयुक्त इन्द्रियगण सदा जीवको इन्द्रियसुखकीओर ही खींचता है। उस समय एकमात्र माता पिता अथवा गुरुका उपदिष्ट धर्मज्ञान ही जीवको असत्कर्मसे बचाकर सन्मार्ग में स्थित रखता है। तदनन्तर कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड, इन दोनों परमावश्यकीय अधिकारोंमें भी विना सदसद्ज्ञान युक्त ज्ञानके साधक कदापि अपनी साधनमर्यादापर यथावत् स्थित नहीं रह सकते हैं।

श्रीभगवान् की अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, इन त्रिविध शक्तियों के सम्वर्द्धनार्थ और उनकी

प्रसन्नताकेलिये ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीन भाव यथाक्रम परमात्मा के हैं और यही अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत कहाते हैं। कारणमें जो होता है, कार्य में भी वही होता है। इसकारण सृष्टिके समस्त विभागोंका भेद त्रिविध है। इन्हीं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टिकी अधिष्ठातृशक्ति अर्थात् चालक यथाक्रमसे ऋषि, देव और पितृगण हैं। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञान विस्तारके कर्त्ता होने के कारण सर्वदा पूजनीय हैं । ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति पद-लाभका कारण है । ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणके ऋणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण होसकता है ? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेकेलिये, उनके सम्वर्द्धनकेलिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगण के ऋणसे उऋण होनेकेलिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। वे सम्वर्द्धित और प्रसन्न

होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते हैं, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यही है। महर्षि अङ्गिराने मीमांसा दर्शन में कहा है कि:

ब्रह्मयज्ञादिभिः प्रोज्जिता ऋषयः ।

तथाविधा ज्ञानस्य वर्द्धकाः ॥

ब्रह्मयज्ञादि कर्मक अनुष्ठानसे ऋपिगण सम्बर्द्धित होते हैं और वे सम्वर्द्धित होकर संसार में ज्ञानका विस्तार करते हैं । इसकारण आर्यजातिमें ब्रह्मयज्ञ साधन करना, नित्यकर्म और परम कर्त्तव्य धर्ममें परिगणित किया गया है । अब कोई ऐसी शङ्का करे कि, जिन जातियों में ऋपियोंके सम्वर्द्धनार्थ ब्रह्मयज्ञ, देवताओंके सम्बर्द्धनार्थ देवयज्ञ और पितृगणके सम्वर्द्धनार्थ पितृयज्ञके साधन नहीं होते, वहाँ ज्ञान, सुख और स्वास्थ्यरूपी आध्यात्मिक, आधिदैविक

और आधिभौतिक फलकी प्राप्ति कैसे होती है ? इस शङ्काका समाधान यह है कि, यदि कोई राजाको प्रतिदिन प्रणाम न करे, परन्तु राजाकी आज्ञाका पालन करे, तो क्या समदर्शी राजा उसपर प्रसन्न होकर उसको पुरस्कृत नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे । इस दृष्टान्तका दान्त यह है कि, आजकलकी किसी-किसी उन्नत पाश्चात्य जातिमें जो विद्या पक्षपात, ज्ञानानुराग, विद्वानोंकी प्रतिष्ठामें प्रवृत्ति और अज्ञात विषयोंके जानने के लिये प्रबल वासना आदि आध्यात्मिकोन्नतिकर धर्मवृत्तियोंकी विशेष उन्नति है, इससे वह जाति ऋषिगणकी अवश्य कृपापात्र होंगी। इसी प्रकार शौर्य, वीर्य, स्वदेशानुराग, सत्यप्रियता, स्वजातिप्रेम, तप, निष्काम कर्ममें अनुराग और दानमें रति आदि धर्मवृत्तियाँ जब उन जातियों में उपस्थित हैं, तब वे देवताओंकी प्रसन्नता सम्पादन करके ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखप्राप्तिकी भाजन होंगी। और इसी प्रकार वे नित्यनैमित्तिक पितरोंके

अस्तित्वको भलीभाँति न समझनेपर पितृगणकी सन्तोषभाजन होसकती हैं, क्योंकि उक्त जातियोंकी पूर्वजोंपर श्रद्धा, उक्तजातियोंकी वृद्धसेवा, उनमें पितृमातृभक्तिका भाव, और आदर्श पुरुषोंकी पूजा इत्यादि धर्मवृत्तियों की उपस्थिति है। इससे स्वतः ही वे पितृलोगोंके कृपाभाजन हैं। धर्म सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकर है। इसकारण धर्मवृत्तियोंके लाभ करनेसे सब समुष्य उसका यथायोग्य फल प्राप्त करसकते हैं। धर्मके अङ्ग अनन्त हैं। इसकारण कोई जाति भी सदाचारविहीन होनेपर भी अपने उपयोगी विशेष विशेष धर्माङ्गोंका पूर्णरीत्या पालन करनेपर धार्मिक होसकती है। धर्मपर आरूढ़ होनेपर अनार्यजाति भी भगवत्कृपा, ऋषिकृपा, देवकृपा और पितृकृपाभाजन होती हुई ऐहलौकिक और पारलौकिक सब अभ्युदयों को प्राप्त करसकती है । निःश्रेयसकी बात स्वतन्त्र है। निःश्रेयस केवल परमात्मा के साक्षात्कार, विषयसे पूर्ण वैराग्य, वासनानाश और तत्त्वज्ञान होनेसे लाभ हुआ करता

है। यही ज्ञानयुक्त ब्रह्मयज्ञकेद्वारा विश्वजीवनके साथ एकत्व सम्बन्ध स्थापन करनेका चरम फल है ।

देवयज्ञ

इष्ट उपासनाकेअर्थ भगवत्पूजारूपेण परमात्मा और उनकी शक्तियों के लक्ष्यपर अग्निमें आहुति प्रदान करनेसे देवयज्ञका साधन हुआ करता है । पञ्चमहायज्ञों में यह यज्ञ द्वितीय स्थानीय है । भगवद्भक्ति और देवपूजनकेद्वारा स्वतः ही किसप्रकार आत्मोन्नति होती है, सो दर्शनशास्त्रों में भलीभाँति सिद्ध कर दिखाया है। पूर्ण शक्तिधारी परमात्मा शरणागत भक्तपर कृपा करके उसको उच्चतर अध्यात्मभूमि में पहुँचा दिया करते हैं, इसमें सन्देहमात्र नहीं । परन्तु यदि लौकिक बुद्धिके अनुसार देवसेवाके विज्ञानपर विचार करते हुए श्रीभगवानकी

अलौकिक कृपापर मनन न किया जाय, तौ भी उपासनाविज्ञानकी सुकौशलपूर्ण क्रियापर ध्यान देनेसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, ईश्वर भक्ति और भगवत्पूजन सम्बन्धीय सच चेष्टायें मनुष्यको स्वतः ही उन्नत अध्यात्मभूमिकी अधिकारी कर दिया करती हैं। ईश्वरको लक्ष्य करके बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय समूहके संयम करनेसे, और चाहे किसीप्रकारसे ही हो अन्तःकरणको परमात्माकीओर फिरानेसे जीव आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त किया करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं । यह संसार और इस संसार के नाना जीवआदि सब विभाग असत्य और त्रितापमय हैं, किन्तु केवल एकमात्र श्रीभगवान्का शान्तिमय परमपद ही सब तापोंसे रहित और परम आनन्दका स्थान है । फलत: असद्राज्यको यह जीव चाहे किसी प्रकारसे त्याग कर सके, उस परमपदकीओर मुख फेरते ही परम कल्याणका अधिकारी होने लगता है । अपिच दूसरे विचारकेअनुसार भी समझ सकते हैं कि,

यदि अद्वैत भाव स्थापना करना ही साधनका परम लक्ष्य हो तो भी, अद्वैतपदके स्वामी श्रीभगवान्को स्मरणपूर्वक उनके प्रीत्यर्थ यज्ञ करके भाव में विभोर होनेके अतिरिक्त, अन्तःकरणकी समता प्राप्त करनेके अर्थ और क्या अधिक पुरुषार्थ हो सकता है ? सब यज्ञोंके मूलमें श्रीभगवान् ही हैं। नृयज्ञ में अतिथिको देवरूप समझना, पितृ यज्ञ में देव और ऋषि तर्पणकी आवश्यकता और भूतयज्ञ में नाना जीवोंको बलि देनेसे पूर्व ईश्वर विभूतिरूप नाना देवताओंको बलि देना, यह सब सर्वव्यापक भावसे उस परमात्माकी पूजा करनेमें अभ्यासकेअर्थ ही है । वैश्वदेव यज्ञमें जो स्वतन्त्र २ आहुतियाँ हैं, वे भी भावमय श्रीभगवान् के विशेष विशेष भावोंके लक्ष्यार्थ ही हैं । एवं पञ्चभूतरूप श्रीभगवान् की प्रत्यक्ष विभूतियों में से मध्यवर्ती शक्ति होने के कारण और अग्निदेव में श्रीभगवान्के तेजका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहने के कारण अग्निकी सहायता से देवयज्ञका साधन किया जाता है।

श्रीभगवान्की अधिदैव शक्तिके वर्द्धनार्थ देवयज्ञका साधन किया जाता है। महर्षि अङ्गिराने कहा है कि:-

यज्ञादिभिर्देवाः । शक्तिसुखादीनाम् ।

देवयज्ञके अनुष्ठानसे देव देवियोंका सम्बर्द्धन होता है और वे सम्वर्द्धित होकर संसार में शक्ति और सुख सम्बर्द्धन किया करते हैं। जिसप्रकार श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसीप्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव-देविगण हैं। देवताओंके विषय में पूर्ण विज्ञान आगे बतलाया जायगा । देवता बहुत हैं और वे नित्य नैमित्तिक भेद में विभक्त हैं ।

रुद्रगण, वसुगणके इन्द्रादिक नित्यदेवता हैं और ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक हैं । वस्तुतस्तु अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञकेद्वारा

होती है। देवता प्रसन्न होनेपर यावत् सुख दान करते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावापन्न कर्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भोगोंको प्राप्त करने में समर्थ होता है, और जो देवतागण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथासमय सुसम्पन्न करके, उसकी सुरक्षा करते हैं, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उत्ऋण हो सकता है ? कोई नहीं। श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके परिचालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परिचालक देव-देविगण के सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी होते हैं। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय हैं। देवता और उनके अवतारोंकी पूजा करनेसे, वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत् में शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीतिपर देवयज्ञकेद्वारा समष्टि जगत् में शक्ति और सुख विस्तारका कारण हो सकता है । यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन-भाव है ।

भूतयज्ञ

पूर्वकथित तादात्म्य भाव सम्बन्धीय वैज्ञानिक विचारकेअनुसार कीट, पक्षी, पशु, आदि नाना योनियोंकेसाथ मनुष्यका आध्यात्मिक तादात्म्य सम्बन्ध है, इसके सिद्ध करनेमें दुबारा विचार करने की आवश्यकता नहीं । फलतः विश्वजीवन के साथ यदि एकता सम्पादन करना ही धर्मका प्रधान लक्ष्य है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, इस संसारके जीवमात्रकी सेवा करना मनुष्यका कर्त्तव्य है। भूतयज्ञ साधन में जिन देवताओंका नाम लेकर वलि देनेकी आज्ञा विभिन्न प्रकारसे नाना वैदिक शाखाके नाना भूतयज्ञ सम्बन्धीय आज्ञाओंमें पायी जाती है, उनपर मनन करनेसे ही जाना जा सकेगा कि, इस महायज्ञका क्या तात्पर्य है ? इस सृष्टि में जो कुछ

अलौकिक कार्य हुआ करता है, सो दैवीशक्तियोंकेद्वारा ही हुआ करता है । जो कार्य जीवकी साक्षात् शक्तिसे बाहर है, उसका पूरा करना देवतागण के अधीन हुआ करता है । फलतः देवताओंको आहुति अथवा बलि देकर उनकी नाना जीवाधिष्ठान शक्तिद्वारा भूतसमूहका कल्याण करवाना ही इसप्रकार भूतयज्ञ सम्बन्धीय बलिदानका रहस्य है ।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञ में तृतीय स्थानीय है; अर्थात् देवयज्ञ साधनकेअनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एवं ऐसी आज्ञा है कि, देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिकेद्वारा भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशु पक्षीआदिको अथवा गायको खिला दिया जाय । स्थूल दृष्टिसे अन्यान्य जीवगणकेसाथ मनुष्य जीवनका

प्रत्यक्षरूपेण जितना विरोध दिखायी पड़ता है, सो केवल अज्ञानका ही कारण है । सूक्ष्मदर्शी एवं दार्शनिक विद्वज्जनके निकट उनकेसाथ भी समता ही दिखायी पड़ती है। पूज्यपाद श्रीभगवान् वेदव्यासजीने यह आज्ञा की है कि, जिसप्रकार व्याघ्र वनकेद्वारा सुरक्षित हुआ करता है, उसीप्रकार वन सी वनके राजा व्याघ्रद्वारा सुरक्षित हुआ करता है। इस आर्पवाक्यके समझनेकेलिये विचार कर सकते हैं कि, वनकी वनस्पतियाँ इस संसार के लिये बहुत ही हितकारी हैं। नाना वृक्ष औषधि व लता गुल्मआदिकेद्वारा केवल नाना औषधि एवं ऐश्वर्योंकी ही प्राप्ति नहीं होती किन्तु उनकेद्वारा दैवी विभूतियोंकी भी प्राप्ति हुआ करती है। योगदर्शन में श्रीभगवान् पतञ्चलि जीने कहा है कि :

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ।

सम्बन्ध रूप जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और

समाधिकेद्वारा सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसे हितकारी वृक्षआदि वनमें तभी विद्यमान रह सकते हैं, जब व्याघ्र वनके वृक्षादिको नाश करनेवाले मृगादिकी हिंसा किया करे। व्याघ्र एकओर हिंसा करता है, परन्तु साथहीसाथ दूसरीओर संसारके हितार्थ बड़े-बड़े कल्याणोंका कारण हुआ करता है। इसप्रकार जितनी चिन्ताकी जायगी, उतनी ही श्रीभगवान्की अतुलनीय सार्वभौम एकता सम्पादन करनेका सिद्धान्त भावुकको प्रतीत होगा। भूतयज्ञका अधिकार इसलिये नृयज्ञ और पितृयज्ञ से पहले रक्खागया है कि, इन दोनों महायज्ञों में स्वार्थकाम वृत्तिका होजाना अधिक सम्भव है। अपि च आत्मलक्ष्य तथा सार्वभौम दृष्टि रहनेसे भूतयज्ञके महत्त्वका एक प्रधान कारण और यह है कि, मनुष्यगण बुद्धिजीवी होनेकेकारण स्वाधीन भाव में स्थित हैं, एवं मनुष्यगण स्वाधीन हैं। इसीकारण उनके किये हुए सत् असत् कर्मोंका फल श्रीभगवान् उनको भोग कराया करते हैं। अपि च पुत्र अतिशैशव अवस्थासे कुछ बड़ा होजानेपर

स्वाधीनताको प्राप्त करके जिसप्रकार माताके स्नेहकी न्यूनताका अधिकारी हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियमकेअनुसार मनुष्यगण स्वाधीन और अन्यान्य जीवगण प्रकृतिमाताके अधीन होने के कारण, ऐश्वरीय प्राकृतिक नियमकेसाथ मनुष्यगणकी अपेक्षा अन्यान्य जीवगणका कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध है । अर्थात् मनुष्यगण प्रकृति राज्यके अङ्ग होनेपर भी स्वाधीनता पानेकेकारण कुछ-कुछ अलग वन बैठे हैं, परन्तु पशु पक्षीआदि जीवगण सम्पूर्णरूपेण प्रकृतिके अधीन रहनेकेकारण मूलकारणसे उनका कुछ निकट सम्बन्ध है । फलतः यज्ञआदिके साधन करनेका तात्पर्य्य केवल विश्वजीवनकेसाथ एकता सम्पादन करना है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, भूतयज्ञ भी परमावश्यकीय है । पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगण विश्वब्रह्माण्डके मूल तत्त्वसे पूर्णरूपेण परिचित थे। इसीकारण त्रितापसे तापित जीवगणके कल्याणार्थ ऐसे ऐसे साधनोंकी आज्ञा वे दे गये हैं।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म व वृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकलप्रकारके प्राणियोंकेसाथ, जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उनके सम्वर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है । सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, उसके एक अङ्गकी सहायतासे सब अङ्गोंकी सहायता मानी जासकती है। इस विचारसे भूतयज्ञ परम धर्म है । दूसरा विचार यह है कि, मनुष्य अपने सुखकेलिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है। यहाँतक कि, अपनी शरीरयात्रा के निर्वाह के लिये एक मुहूर्त्त भी भूतोंका ऋणी हुए विना नहीं रह सकता। मनुष्योंके प्रत्येक निःश्वास में कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते हैं। मनुष्यकी तृष्णाकी शान्तिकेलिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिपभोजी भी हो, तौ भी उसके खाद्य पदार्थके

प्रत्येक ग्रासमें कितने जीवोंका नाश होता है ? अपि च मनुष्यों के सुखसम्पादनकेअर्थ भूतोंको क्लेश दिये विना तो, कोई काम ही नहीं चलता । अब थोड़े ही विचारसे समझमें आसकेगा कि, भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उत्रृण नहीं हो सकता है । अस्तु यदि भूतयज्ञद्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायता से उनके सम्वर्द्धनार्थ, जो कुछ पुरुषार्थ करेगा, सो अवश्य महायज्ञ शब्दवाच्य होने योग्य है ।

जगत्पिता ईश्वरकी किन उच्चाधिकारकी शक्तियोंको देवता कहते हैं, सो पहले प्रकाशित करचुके हैं। उन्हीं अन्तर्जगत्सम्बन्धीय सूक्ष्म शक्तिरूप देवताओंकी सहायतासे कार्य करनेका अधिक सम्बन्ध इस महायज्ञमें भी रक्खा गया है। मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं, उनमें से प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक-एक अधिष्ठात्री देवता है। जैसा कि, समस्त श्वानोंपर एक देवता, समस्त अश्वोंपर एक देवता, समस्त हाथियों पर

एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न-भिन्न विभागों में अलग-अलग पशुजाति, पक्षी जाति व कीट पतङ्ग उद्भिज्जादि जातिपर एक-एक देवता है। भूतयज्ञ में उन सब देवताओं के नामपर बलि दी जाती है, जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियोंके अधीन समस्त पशु पक्षीआदिकी तृप्ति होती है । यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है । ऋषि क्या हैं ? देव-देवी क्या हैं ? पितृ क्या हैं ? इनके भेद कितने हैं ? इनके साथ जगत्का सम्बन्ध क्या है ? इत्यादि सब विषय अतिगूढ़ विज्ञानसे पूर्ण हैं | सो सब विस्तारपूर्वक यथायोग्य अध्यायों में वर्णन किया जायगा ।

भूतयज्ञ-साधन में बहुत प्रकारकी बलि देखने से यदि शङ्का हो, इसकारण कहा जा रहा है कि, जीवसृष्टिकी विचित्रता ही इसका कारण है। एवं दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि, वेदकी नानाशाखाओं में नाना असाधारण भेद बलिमें क्यों पाये जाते हैं ?

इसके समाधानमें यही कथनीय है कि, जहाँ पदार्थ सूक्ष्म और विज्ञान प्रबल होता है, वहाँ आचार्योंकि मतोंमें भेद नहीं होसकता, परन्तु जहाँ पदार्थ स्थूल हो जाने के कारण विज्ञानकी सूक्ष्मता हो जाती है, वहाँ उनके मतों में भेद होना सम्भव है । उदाहरण स्थलपर कहा जा सकता है कि, यदि कोई ज्योतिषी जन्मपत्र देखकर फलित कहना चाहे तो, वह कर रेखा देखकर फलित कहनेसे अधिक निश्चय रूपसे कह सकेगा । हस्तरेखामें विज्ञानकी सूक्ष्मता आजानेकेकारण ज्योतिपियोंके मतसे भेद होना सम्भव है। इसी वैज्ञानिक कारणके अनुसार वेदपरवर्त्ती नाना शाखाओंके नाना प्रवर्त्तक आचार्यों में बलियोंके विषय में कुछ मतभेद पाया जाता है । इस शङ्काका समाधान इसप्रकारसे भी हो सकता है कि, ११८० ग्यारह सौ अस्सी वेदकी शाखाओं में आचार्योंने अगणित देवताओंकों बाँटकर, भूतरक्षाकारी सब देवताओंका हिस्सा यथायोग्य रखकर, अपनी पूर्ण

दृष्टिका परिचय दिया है ।

गोप्रासादि-प्रदान करनेकी विधि भी भूतयज्ञसे सम्बन्ध रखती है। यथा गोभिल गृह्यसूत्र में :

अथ बलीन्हरेद्बाह्यतो वान्तर्वास भूमि कृत्वा ।

केवल भूतयज्ञकी बलि देनेसे ही मनुष्य जीवनका परोपकार साधन तथा जीवरक्षारूप धर्मका साधन पूर्णरूपसे होजाता है, ऐसा न समझा जाय, यथाशक्ति अन्न पानादिद्वारा गोसेवा तथा अन्यान्य जीवोंकी सेवा करना भी परमावश्यकीय है । ऐसी जीवगणकी अधिभूत सेवा करनेकी आज्ञा धर्मशास्त्र व पुराणादि में बहुधा पायी जाती है। मनुष्यसे नीचेके सम्पूर्ण जीवजगत्केसाथ एकप्राणता स्थापन और उनकी कल्याणचिन्ता करके आध्यात्मिक उन्नति लाभ और

जगत्का कल्याण करते हुए महाप्राणता लाभ ही इस महायज्ञका उद्देश्य है ।

पितृयज्ञ

पञ्चमहायज्ञमें पितृयज्ञ चतुर्थ स्थानीय है । अर्यमादि नित्य पितर् और परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंको पिण्डप्रदानादिद्वारा संवर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता हैं। पितृयज्ञसे अनेक फलोंकी प्राप्ति होती है। महर्षि अङ्गिराजीने कहा है कि :

"पितृयज्ञादिभिः पितरः" । "स्वास्थ्यवीर्यादीनाम्" ।

पितृयज्ञादिकेद्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसार में स्वास्थ्य और बलआदि सम्वर्द्धन किया करते हैं ।

उन्नत ज्ञानयुक्त मनुष्यका आत्मा जितने उदार भावको धारण करता जाता है, उतना ही मानव भूत भविष्यत्

और वर्त्तमान, इन तीनों कालोंको एक भाव में स्थित देखने में समर्थ हुआ करता है। अङ्गिरा, वसिष्ठआदि पूज्यपाद आदिपुरुषगण एवं व्यास भारद्वाजआदि पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा मानवगणपर अतुलनीय है । यदि वे कृपापूर्वक इसप्रकार ज्ञानका विस्तार न कर जाते, तो मनुष्यगणके मनुष्यत्व-प्राप्ति करनेकी और कोई भी सम्भावना नहीं थी । विचारशील पुरुषमात्र ही यह स्वीकार करेंगे कि, मनुष्य समाजपर पूज्यपाद महर्षिगणकी कृपा अतुलनीय एवं सर्वोपरि है। इसीप्रकारसे अपने पितृगणके ऋणसे भी मनुष्यगण कदापि उत्तीर्ण नहीं हो सकते। यह माता पिताकी सत् प्रकृतिका ही कारण है कि, जिससे उन्नत ज्ञान प्राप्त करनेके उपयोगी उपयुक्त देह, मुमुक्षुको प्राप्त होता है। एवं परम्परा सम्बन्धसे सब पूर्वजोंका ऐसा ही कृपा सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करने योग्य है। ऐसे परम दयालु एवं परम माननीय पितृगणको स्मरणपूर्वक उनकी तृप्ति और सम्मानार्थ अन्नोदक प्रदान करनेसे पितृयज्ञका साधन हुआ करता है ।

अल्पदर्शी मनुष्यगण इसप्रकारके साधनोंके विषय में नानाप्रकारकी युक्तिशून्य कल्पनायें किया करते हैं, एवं ऐसी

शङ्का करते हैं कि, परलोकगामी आत्मा किसप्रकारसे स्थूल पदार्थमय दान ग्रहण करने में समर्थ होसकते हैं ? दार्शनिक विज्ञानद्वारा यह स्वतःसिद्ध है कि, स्थूल सूक्ष्म सम्बन्धयुक्त यह विराट् ब्रह्माण्ड वास्तवतः समष्टि व्यष्टिरूपेण एक अद्वैत भावमें स्थित है, इसीकारण सूक्ष्म समष्टिरूपी मनोराज्यका स्थूल व्यष्टिरूपी स्थूल शरीरकेसाथ एवं स्थूल समष्टिकेसाथ सूक्ष्म शरीरके व्यष्टिभावका एकत्व सम्बन्ध सदा मननीय होने के कारण अल्पमति जीवगणके वैसे प्रश्न विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुपके निकट उपेक्षाके ही विषय हैं। परलोकगत पितरोंका लक्ष्य करके प्रदत्त अन्नादिकोंवेद्वारा उनकी तृप्ति और प्रेतत्त्वादिसे मुक्ति कैसे हो सकती है ? इसका पूर्ण विज्ञान आगेके किसी समुल्लास में वर्णन किया

जायगा । परन्तु पञ्चमहायज्ञके साधन के विषय में वैसे विचार करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि महायज्ञ साधनका लक्ष्य आत्मोन्नति है, अपि च यज्ञरूपी धर्मका मुख्य सम्बन्ध क्रिया सिद्धांशकेसाथ न होकर केवल अपनी आत्माकेसाथ हुआ करता है। विशेषतः पितृयज्ञ साधन करनेकी विधिपर कुछ थोड़ासा मनन करनेपर ही विदित हो सकेगा कि, इस महयज्ञके साधनका अति महान् और सार्वभौम लक्ष्य है। शास्त्र में कहा है। यथा:

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षि पितृमानवाः ।

तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः।।

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।

तेपामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया।।

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर् मानव, माता और मातामहादि पितर् हमारे किये हुए

अनुष्ठानकेद्वारा तृप्त हों । समस्त नरकमें यातनायुक्त जितने जीव हैं, उनके उद्धारकेलिये, मैं यह जल प्रदान करता हूँ । अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु परलोक सम्बन्धसे महपिंगणसे लेकर सवप्रकारकी आत्माकी तृतिकेअर्थही इस यज्ञका विधान कियागया है । ज्ञानराज्यके चालक पितृगण हैं। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्के प्राणिमात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समयपर होना, इत्यादि सव नित्य पितरोंका कार्य है । अर्यमादि नित्यपितर कहलाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर कहलाते हैं । इसप्रकारके पितृगणकी तृप्तिके अर्थ जगत्कल्याण बुद्धिसे जो क्रिया की जायगी, वह क्रिया अवश्य महायज्ञ पदवाच्य होगी, इसमें सन्देह ही क्या है ?

विचारशील मनुष्यगण तर्पण व पितृयज्ञके मन्त्रोंपर निरपेक्षरूपेण जितना मनन करेंगे, उतना ही जान सकेंगे कि, केवल सार्वभौम मतयुक्त परार्थभाव, जगत् की सेवा और तृप्ति एवं उसके साथ ही साथ विश्वजीवन केसाथ ऐक्य सम्पादन करनेकेअर्थ यह यज्ञ कियाजाता है। यही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

नृयज्ञ

मनुष्यजीवन के विचारसे जिसप्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्य समाजका एक अङ्ग होता है, उसीप्रकार यह स्थिर निश्चय है कि, मनुष्यजीवन विश्वजीवनका एक अङ्ग है। जिसप्रकार शरीरमेंसे एक अङ्गको भी हानि पहुँच जानेसे समस्त शरीर विकलाङ्ग कहलाता है, जिसप्रकार शरीरको पूर्ण नीरोग रखनेकेअर्थ मनुष्योंको स्नानादि नाना कार्यँकेद्वारा शरीरके प्रत्येक

अङ्गकी सेवा करनी परमावश्यक है, जिसप्रकार शरीरके किसी एक अङ्गमें यदि कोई रोग उत्पन्न हो, तो समस्त शरीरकी शान्ति नष्ट होजाती है, जिस विचारानुसार शरीरका प्रत्येक अङ्ग ही अहं शब्दवाच्य शरीरके अन्तर्गत समझाजाता है, उसी समष्टि व्यष्टि विचारानुसार जीवजगत् केसाथ मनुष्यमात्रका एकत्र सम्बन्ध होना स्वतः सिद्ध है । पुनः यदि सृष्टिकी विशेषतापर ध्यान दिया जाय और यदि विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध मानाजाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, मनुष्यजीवन के साथ मनुष्यमात्रका ही सबसे नैकटय सम्बन्ध है। फलत: मनुष्यत्व धर्म प्राप्तिकेअर्थ अतिथिसेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म है । यदि च सन्न्यासाश्रमधारी मनुष्योंके लिये वेदकी यही आज्ञा है कि, सब संसारको अपनी आत्माके समान दर्शन करके समानरूपेण सबकी सेवामें रत रहें, किन्तु सर्वसाधारण गृहस्थोंकेलिये केवल अतिथिसेवा ही

युक्तियुक्त समझी गयी है। अतिथिसेवाकेअर्थ धर्मशास्त्रों में ऐसी आज्ञा है कि, गृहस्थों केलिये परमावश्यक अतिथिसेवा है। गृहस्थके घर में जब अतिथि आवे, तो पाद्य अर्ध आदिकेद्वारा उनकी पूजा की जाय और विधिपूर्वक सदाचारकेसाथ अतिथिको अन्न आदिक प्रदान किया जाय । धर्मशास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है कि:

तृणानि भूमिरुदकं चाकूचतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।

आसनकेलिये तृण अर्थात् दर्भासन, विश्रामार्थ भूमि, पानार्थ जल और चौथा प्रिय वचन, सद्गृहस्थों के घरमें इतनी बातें तो अवश्य होनी चाहियें। इस पञ्चम महायज्ञका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि, समस्त पृथिवीभर में जितने मनुष्य समाज हैं और आज जो

जो उपधर्म प्रचलित हैं, उन सबके निकट अतिथि-सेवा समानरूपसे आदरणीय है। और यह संसार अधिभूत प्रधान होने के कारण अपने शास्त्रों में भी इसी यज्ञकी सर्वोपरि आवश्यकता मानी गयी है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अतिदरिद्र होवे तौ भी, कदापि अतिथिसेवासे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रों में कहा है कि:

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।

स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति।।

'अतिथि असत्कृतहो कर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उस गृहस्थका पुण्य अपने साथ लेजाया करते हैं। कोई वस्तु अतिथिको भोजन न कराकर गृहस्थको कदापि स्वयं भोजन करना उचित नहीं है। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थोंको धन, आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है । अतिथिको देवता मानकर आसन, घर, शय्या और पानभोजनादि उनके योग्यतानुसार प्रदान करना उचित है । फलतः

अतिथिको देवता मानकर सेवा करना योग्य है । विश्वजीवनके साथ अपनी आत्माका एकत्व संबन्ध स्थापन करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। मनुष्यसमाजभरको अपना रूप देखनेसे साधक पूर्णाधिकारको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि:

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

यह अपना है और यह पराया है, ऐसा भाव लघुचेता मनुष्योंका हुआ करता है। उदारचरित महानुभावोंकी तो सकल पृथिवी ही कुटुम्बरूप है। मनुष्य इसप्रकार अपने सङ्कोचित अहङ्कार भावको विस्तृत करते हुए, अन्तमें अपनेको विश्वरूप समझने लगता है, तभी मुक्त होता है। प्रथमावस्था में मनुष्य अपने सुखसे ही अपनेको सुखी समझता है । तत्पश्चात् क्रमोन्नतिमें वह अपने स्त्री-मित्रादिको सुखी देख सुखी होता है।

सदाचारी धाम्मिकगण आत्मीय परिजनोंको सुखी देख प्रसन्न होते हैं । स्वदेश-हितैषी ज्ञानके उन्नत अधिकारिगण अपने स्वदेशवासियोंको सुखी देख कृतकृत्य होते हैं। उन्नतात्मा पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्तगण जगत् के मनुष्य-समाजभरको सुखी देखकर सुखी होते हैं । यही आत्माकी कमोन्नतिका लक्षण है। अब इसभावको कार्यरूप में परिणत करने में कठिनता यह है कि, एक मनुष्य कदापि संसार भरके सब मनुष्यों की सेवा नहीं कर सकता। इसी कठिनताको सुसाध्य करनेकेलिये विशेष देश व विशेष कालसे परिच्छिन्न मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते हैं । अर्थात् भोजनकालतक घरपर चाहे किसी जाति वा चाहे किसी धर्मका मनुष्य क्यों न आवे वह देवतावत् पूजने योग्य है। यही नृयज्ञ है। हिन्दूशास्त्र में अतिथिसेवाकी महिमा सर्वोपरि कीर्त्तन की गयी है, जो आगे बतायी जायगी ।

ऊपर कथित महायज्ञ-विज्ञान और उदाहरणरूपसे

आर्यशास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका वैज्ञानिक रहस्य, जो ऊपर प्रकाशित किया गया, उसपर मनन करनेसे यज्ञ और महायज्ञ विज्ञानका भेद, महायज्ञकी विशेषता और महायज्ञ साधनके विषय में अध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंका कर्त्तव्य, यथावत् परिज्ञात होगा । इसीप्रकारसे महायज्ञकी महिमाको जानकर अनुष्ठान करनेसे सभी श्रेणी और समस्त जातिके मनुष्यमात्र ही अपने मनुष्यत्व के पूर्णपदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं ।